

# एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-X

स्कूल का चलना III : स्कूल का सामान्य कलेण्डर आम या खास?

फ़राह फ़ारूकी

एक संस्था के तौर पर स्कूल लोकतांत्रिक संस्था बने इसके लिए जरूरी है कि तमाम हितधारक स्कूली प्रक्रियाओं से जुड़े। स्कूल में सीखने-सिखाने का उत्साहजनक माहौल बने इसके लिए आवश्यक है कि रूटीन दिनचर्या में बदलाव किए जाएं। इन कोशिशों में किस तरह की चुनौतियां पेश आती हैं, यह लेख इन्हीं अनुभवों का जीवन्त लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है।

**क**भी तो यह सोचकर शर्मिंदा हो जाती हूं कि स्कूल में किसी बड़े बदलाव का मैं ज़रिया नहीं बन पाई। खासतौर से स्कूल की बोसीदा इमारत को देखकर लगता है कि इतने दिनों में कहीं से नई इमारत बनवाने की पूंजी भी इकट्ठी नहीं कर पाई हूं। इसी तरह और भी कई मसले हैं, टीचर की नियुक्ति के सिलसिले में, वगैरा-वगैरा। कभी इनका ज़िक्र ज़रूर करूंगी आपसे। कभी ऐसा भी होता है कि स्कूल में छोटे-छोटे बदलाव देखकर एक बड़ी उम्मीद जागती है, लगता है शायद बहुत कुछ मुमकिन है। यह छोटे-मोटे बदलाव ही सही लेकिन इनके पीछे ढांचों में आए बड़े बदलाव छुपे हुए हैं। साथ ही इन आम से तजुरबों की कामयाबी ने स्कूल का माहौल बदलने का काम तो किया ही है। इन तजुरबों और स्कूल में आए खुशगवार से बदलाव का ज़िक्र यहां मौजूद है। इनमें से बहुत से दख़ल ऐसे हैं जो किसी भी आम स्कूल के दस्तूर का हिस्सा होते हैं। इन साधारण से दिखने-समझे जाने वाले दख़ल और दस्तूरों के पीछे छुपी कहानियां सुनाना इस लेख का मक़सद है।

## लेखक परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

जब स्कूल का काम संभाला तो टीचर और बच्चों से स्कूल के बारे में काफ़ी बातचीत हुई। हमारे बच्चों का एक खास अंदाज़ है। अपने हालात पर- जिसमें स्कूल के हालात शामिल हैं- अच्छा व्यंग्य कर पाते हैं। या फिर यूं कहिए कि रोने-कोसने की बजाय हंसकर गुज़ार देते हैं। जैसे, हमारा एक बच्चा, क़मर अब्बास, हाल में ज़िक्र कर रहा था किसी स्कूल में वह एक प्रोग्राम में गए, जहां काफ़ी स्कूलों के बच्चे और टीचर आए हुए थे। एक टीचर ने इनसे पूछा कि कौनसे स्कूल से ताल्लुक है? बताया, “...इंटरनेशनल स्कूल”। जी, “इंटरनेशनल” अपनी तरफ़ से जोड़ लिया। टीचर ने फिर पूछा, “यह कहां पर है, कभी नाम नहीं सुना”। जवाब दिया, “अरे आप नहीं जानते? हमारा स्कूल तो बाड़े में वर्ल्ड फ़ेमस (World Famous) है” (बाड़ा, इलाक़े के नाम है)। यह कहकर और फिर मुझे बताकर हंस तो लिए, लेकिन बड़ा मलाल है कि हमारे स्कूल का भी नाम होता। काश, लोगों का नज़रिया इसके बारे में बेहतर होता।

## सालाना जलसा

शुरू में जब बात हुई तो काफ़ी बच्चों का इस्ार था कि हमारे स्कूल में सालाना जलसा मनाया जाना चाहिए। पता यह चला कि सालाना जलसा तो चौदह-पन्द्रह साल क़ब्ल स्कूल में मनाया जाता था। तबसे यह बस एक ख़्वाब ही है। बच्चों की तो ख़्वाहिश थी

ही, टीचर और इन्तज़ामिया से बातचीत हुई। यह तय पाया कि सालाना जलसा मनाया जाएगा।

जोर-शोर से तैयारियां शुरू हुईं। कई तजवीज़ों को नर्मी से नकारना पड़ा। जैसे, यह कहा गया, “दानिश ने हाल में हमदर्द स्कूल में डिबेट में प्राइज़ जीता है, वह वही तर्करीर कर सकता है” या फिर, “वह दो बच्चियां अच्छा गाती हैं, उन्हें तैयारी करवाई जा सकती है”। यह बात सामने रखी गई कि कार्यक्रम करने का मतलब है कि हम ज़्यादा से ज़्यादा बच्चों को मंच पर आने का मौका दें, इससे उनमें हिम्मत आएगी। बातचीत से महसूस तो हुआ था कि मुद्दा समझ में आया है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों की फेहरिस्त में कुछ रिवायती चीज़ें तो ऐसी हैं कि लगता है कि उनका कोई विकल्प ही मुमकिन नहीं है। जैसे राष्ट्रवादी गीत होना लाज़मी मान लिया गया। भई, हमने भी इस वतनपरस्ती के आगे सर झुका दिया। लेकिन अब हर चीज़ पर वाह-वाही या शाबाशी तो बस की बात नहीं है। नाटक जो तजवीज़ हुआ वह “अच्छे” और “बुरे” बच्चों की खसलतों और खासयतों को उभारता हुआ था। इसमें कुछ इस तरह के सीन थे। शुरुआत में एक बच्चे को दिखाया गया जो सुबह उठकर वालदैन को सलाम करता है, फिर खुदा का नाम लेने और प्रार्थना से दिन की शुरुआत होती है। दूसरा “बुरा” बच्चा यह सब नहीं करता है, बल्कि कुछ धमा-चौकड़ी सी करता हुआ दिखाया गया था। थोड़ी बहुत बातचीत हुई कि ज़्यादातर बच्चे इस मसूनई से “अच्छे-बुरे” तराजू के कहीं बीच में ही होंगे। कुछ दिल शिकनी तो हुई लेकिन इस ड्रामे की जगह बच्चों की किताब ही में दिया गया तमसीली मुशाएरा होना करार पाया। खैर, जैसे-तैसे प्रोग्राम तैयार हुआ। रंगारंग कार्यक्रम के चुनाव और तैयारी ने यह ज़ाहिर कर दिया कि इन तमाम चीज़ों का चुनाव लोकगीत, गज़ल, कव्वाली, नाटक वगैरा- हमारी सामाजिक और बच्चों के बारे में समझ का एक अक्स ही है। खैर, इन चार सालों में हमने, “अच्छे-बुरे बच्चे” से शुरू करके, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की गज़ल, कव्वाली में खुसरो के कलाम और नाटक में जेण्डर के सवाल को उठाने तक का सफ़र तय किया है।

लेकिन इस तैयारी में जो एक खास चीज़ उभर कर आई थी, वह था एक इदारा होने का एहसास। यह एहसास कहीं खोया हुआ सा था जिसे लगा कि इस तैयारी के दौरान हमने पा लिया। बच्चों का तो बस नहीं चल रहा था कि वे किसी न किसी रूप में प्रोग्राम में शामिल हों। चाहे रंगारंग कार्यक्रम हो या इंतज़ाम देखने की ज़िम्मेदारी। एक चीज़ जिसका खास खयाल रखा गया वह थी कि सभी टीचर अपनी मर्जी से किसी न किसी कमेटी में शामिल होंगे। जैसे, सांस्कृतिक कार्यक्रम तैयार करवाने वाली कमेटी या फिर आमंत्रण कमेटी, खान-पान कमेटी वगैरा। काफ़ी अपनी खुशी में शामिल हुए, कुछ को किया गया। सभी ने प्रोग्राम को कामयाब बनाने की अपनी सी पुरज़ोर कोशिश की। कई सीनियर टीचर इस बात से इतने मुतमइन थे कि आखिर स्कूल में कुछ हो रहा है कि उन्होंने अपनी खुशी से कई हज़ार रुपये प्रिंसिपल साहब को दिए और बाहरी दीवारों पर क़लई करवाई। स्कूल को सजाया, संवारा गया। भई, हम सब एकजुट होकर बाहरी दुनिया के समाने अपने-आपको पेश करने में लग गए। अपने इदारे की “परिस्तिश” में सब मिल-जुलकर शामिल थे। हमारी बच्चों की काउन्सिल जो उसी साल बनी थी काफ़ी हरकत में आई और उन्होंने बढ़-चढ़कर कामों में हिस्सा लिया। प्रिंसिपल साहब ने लोगों के सामने स्कूल की रिपोर्ट पेश की। यह एक मौका था, उनके लिए अपनी सदरत के बारे में सोचने का।

जहां प्रोग्राम की कामयाबी की खुशियां मनाई गईं। वहीं कई कमियां भी उभरकर आईं। जबकि इस बारे में काफ़ी बातचीत हुई थी कि किस तरह हम इस कार्यक्रम को मौके के रूप में देखें जहां बच्चे मंच पर आने की खुशी और साथ ही हिम्मत महसूस करें लेकिन हुआ कुछ और ही। जबकि मैं तैयारी में लगातार शरीक थी फिर भी यह अंदाज़ा काफ़ी देर से हुआ कि जो बच्चे सामूहिक गीत में हैं, वही कव्वाली में हैं और उन्हीं बच्चों का एक गुप राष्ट्रवादी गीत का हिस्सा है। यानी कपड़े बदल-बदल कर वही बच्चियां और बच्चे इन तीनों चीज़ों में शामिल थे। दिल तो मेरा यह सोचकर बहुत दुखा कि कम से कम अस्सी (80) और बच्चों का हक़ मारा गया लेकिन उस वक़्त कामयाबी की खुशी को कम नहीं होने दिया। जब कहा भी तो अपनी ज़िम्मेदारी भी कुबूल करते हुए कहा, “हम आईदा और ज़्यादा बच्चों को मौका देंगे।” सबने मिलकर खुशियां मनाई और मैंने प्रिंसिपल साहब से लेकर, टीचर, बाकी स्टाफ़ और बच्चों की काउन्सिल; सभी को मुबारकवाद पेश की और मेहनत की शाबाशी भी दी। जहां तक कम बच्चों को मौका देने की

बात है, टीचर बेचारे भी क्या करें। अपने-आपको “बड़ों” यानी इन्तज़ामिया और मेहमानों के सामने साबित करने की मजबूरी जो सर पर हावी थी। कई बार सालाना जलसा मनाने के बाद अब कुछ हिम्मत आई है तो यह सूरत भी बदली है। इस बार एक सीनियर टीचर ने तैयारी के दौरान इंचार्ज टीचर से कहा, “यह सब ठीक गा नहीं पा रहे हैं इन्हें निकाल दो।” जब वह चली गई तो इंचार्ज ने मुस्कराते हुए मुझसे कहा, “बेफिक्र रहिए मैम, इनमें से एक को भी नहीं निकालेंगे। हमारे बच्चे इतने दिन से खुशी-खुशी तैयारी कर रहे हैं।”

दूसरी बार जब सालाना जलसा मनाया गया तब महमाने खुसूसी को शिरकत के लिए कायल करने में खासी जद्दोजहद रही। वह मेरे उस्ताद की हैसियत रखते हैं, चाहे रिश्ता एकलव्य जैसा ही क्यों न हो। उनका कहना था कि इस तरह के कार्यक्रमों में बेजा पैसा खर्च होता है। और जहां कुछ बच्चों को मौका मिलता है वहीं ऐसा प्रोग्राम ज़्यादा बच्चों को वर्जित करता है। यह बात जिस नियत से उन्होंने कही उसे मैं सोलह आने कुबूल करती हूँ। लेकिन मैं आपके सामने एक और पहलू भी पेश करना चाहूंगी। मेरा मानना है कि शामिल होने के मौके और हाशियों की मजबूरी सापेक्षित तसव्युरात हैं जिन्हें संदर्भ को देखे बगैर तय नहीं किया जा सकता है। जहां हमारे बच्चे इस समाज में अपनी हैसियत और पहचान को ढूँढ़ रहे हों जिसका एक आइना स्कूल भी है, वहां यह सवाल और पेचीदा हो जाता है। हमारे बच्चे बखूबी वाकिफ़ हैं कि सालाना जलसा ज़्यादातर शैक्षिक इदारों का हिस्सा होता है और उनकी ख्वाहिश है कि उनके इदारे में भी मनाया जाए। इन हाशिये चूम रहे बच्चों को मुनासिब और गैरमुनासिब की पेचेदगी समझाने (जिसका एक आयाम पैसे से भी ताल्लुक़ रखता हो) का हौसला हममें तो नहीं है। बल्कि यूं भी कहा जा सकता है कि शामिल होने और करने का तसव्युर भी मिलजुल कर ही बनता है, यह भी अगर ऊपर से ही थोप दिया जाए तो शामिल करने-होने के मायने ही बदल जाते हैं। यह भी एक सीढ़ीनुमा सफ़र है जिसे हम सब मिलकर ही धीरे-धीरे तय करेंगे और शायद कभी सालाना जलसे की जगह पर और ज़्यादा बेहतर दस्तूरों को जगह देना चाहेंगे।

फ़िलहाल तो इसने हमें एकजुट होकर खुशी मनाना तो खूब सिखाया है। हमने बच्चों को इनामात तक़सीम करने के बहुत से आयाम खोजे और दिल खोलकर बांटे। कोशिश तो रही कि ज़्यादा से ज़्यादा बच्चे इनाम पाएं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों में या इन्तज़ाम में हिस्सा लें। जो बच्चे इनमें से किसी में भी शामिल नहीं हुए, यकीन मानिए वह भी खुश थे। इनाम मिलने पर बच्चों की खुशी का तो ठिकाना नहीं था लेकिन उनके वालदैन के चेहरे देखने लायक़ थे। अपने बच्चों की कामयाबी पर नाजां थे। यह तो ख़ैर कोई नई बात नहीं है कि मां-बाप अपने बच्चों की कामयाबी पर फ़ख़ करें। लेकिन यह लम्हा उन्हें एक खोई इज़्ज़त का एहसास दे रहा था। जब हमारे बच्चों की काउन्सिल स्टेज पर आई तो हैड बॉय की मां की आंखों में आंसू थे। पलटकर मुझसे बोलीं, “वह बड़ा रहीमों-करीम है, शाज़मान को स्कूल छोड़ने से पहले कितनी इज़्ज़त बख़्शी है”। उनकी खुशी देखकर मैं भी अपने आंसू नहीं रोक पाई। हमारे हैड बॉय शाज़मान बारहवीं में थे और कुछ महीने में स्कूल छोड़ना ही था। सालाना जलसा हमें एक मौका और देता है उन मज़दूरों को उनके हक़ की इज़्ज़त देने का जो इस बेरहम ज़माने ने उनसे छीन सी ली है। वालदैन अपने सबसे बेहतर लिबासों में, दमकते चेहरों से स्कूल आते हैं और हम खुशी और इज़्ज़त से उन्हें जब साथ में सीटों पर बैठाते हैं, साथ में खाते-पीते हैं तो ग़ैरबराबरी के जुर्म का बोझ आर्ज़ी तौर पर कुछ हल्का महसूस ज़रूर होता है। मैं शाज़मान की मां की दुआ में यह जोड़ना चाहूंगी के, “रहीम, यह लम्हा हमारे शाज़मान को मरकज़ की तरफ़ छलांग लगाने की हिम्मत दे दे।”

## हाउज़ सिस्टम

कहने को हमारे स्कूल में हाउज़ सिस्टम हमेशा से है लेकिन चलना तो दूर की बात है, खिसक भी नहीं रहा था। जब शुरू-शुरू में कल्चरल-इंचार्ज या सांस्कृतिक कार्यक्रमों की इंचार्ज टीचर से पूछा तो उन्होंने कहा, “जी मैम, बिलकुल है, हमारे यहां बच्चे चार हाउज़ेज में बंटे हैं- सर सैय्यद हाउज़, ज़ाकिर हाऊज़, बेग हाउज़ और नेहरू हाउज़”। यह भी कहा, “हमारे यहां पर हर सनीचर को अलग-अलग हाउज़ेज के फंक्शन होते हैं।” एक दिन सनीचर के प्रोग्राम

का जाएगा मैंने भी लिया- दूर ही से सही। फिर भी बखूबी अन्दाज़ा हो गया कि बहुत-सी और चीज़ों की तरह हमारा हाउज़ सिस्टम भी बस कागज़ पर ही सांसें ले रहा है, इसके बाहर बेचारे का वुजूद बस न के बराबर है। मंज़र कुछ यूँ था-

बच्चे भेड़-बकरियों की तरह आधे मैदान में भर लिए गए थे (क्योंकि आधे मैदान में उस वक़्त धूप थी। ज़्यादातर बच्चे फटी दरियों पर घुटनियों बैठे थे। उनके चेहरों पर मजबूरी, परेशानी आजिज़ी साफ़ झलक रही थी। कहने को हाउज़ के बीच विज्ञान क्विज़ का मुक़ाबला था। हमारे एक टीचर माइक पर सवाल बरसा रहे थे। उनके बताओ-बताओ कहने पर एक बच्चे ने हाथ उठाया। उसे खड़ा किया गया, जवाब देने पर हाउज़ पूछा गया। बच्चे ने धीरे से न में सर हिलाया। उस्ताद साहब दहाड़े, “तुम्हें अपने हाउस का नाम भी नहीं पता?” आसपास बैठे दोस्तों ने कुछ खुसपुसाया। बच्चे ने धीरे से कान खुजाते हुए जवाब दिया नेहरू हाउज़। उस्ताद साहब ने खुश होते हुए कहा, “नेहरू हाउज़ के दस पॉईंट।” उन्होंने ताली बजाई और उन्हें देखकर बच्चों ने भी फर्ज़ के तौर पर हथेलियां मिलाई।

बाद में मैंने कई आते-जाते बच्चों को रोककर पूछा तो पता चला कि उन्हें वाकई यह ठीक से पता ही नहीं है कि वे किस हाउज़ में हैं। बातचीत करने पर टीचर हज़रात से पता चला कि बजाय इसके कि एक कक्षा के बच्चों को चारों हाउज़ों में बांटते, पूरी-पूरी कक्षा या सैक्शन को एक हाउज़ में डाल दिया गया है, यानी इसमें भी अपनी ही आसानी देखी न कि बच्चों का फ़ायदा। इस तरह हाउज़ सिस्टम के मक़सद को ही मात दे दी। अगर मोटेतौर पर देखें तो हाउज़ सिस्टम बच्चों को उम्र और अपनी कक्षा के बाहर रिश्ते बनाने, मिलने, खेलने और काम करने के मौक़े तो देता ही है।

जब यह पता चल ही गया कि हम लोगों को कुछ ख़ास अन्दाज़ा नहीं है कि इस सिलसिले में क्या किया जाना चाहिए तो चार टीचर की एक समिति बनाई। स्कूलों से राबता कायम किया गया और उन्हें वहाँ भेजकर जानकारी हासिल करने, समझने का बंदोबस्त किया। उन्होंने समझा-बूझा और अपने स्कूल के लिए एक योजना तैयार की जिसे बाकी टीचर के सामने पेश किया और उनकी राय भी इसमें शामिल की। इस तरह एक नया सिस्टम वुजूद में आया जिसमें स्कूल के बच्चों के साथ-साथ सभी टीचर भी किसी न किसी हाउज़ का हिस्सा थे। हर जमात के बच्चों को बराबर तादाद में चारों हाउज़ में डाला गया। हमारी हाउज़ इंचार्ज के हिसाब से, “हमारे स्कूल का माहौल और उसके हिसाब से ज़रूरत क्योंकि दूसरे स्कूलों से मुख्तलिफ़ थी इसलिए हमें अपना नया और अलग सिस्टम तैयार करना पड़ा। वैसा ही उठाकर नहीं थोप दिया।”

लागू होने के बाद हर हाउज़ के बच्चों की अपने-अपने हाउज़ के उस्तादों के साथ बैठकें शुरू हुईं। तरह-तरह के मुक़ाबले आयोजित हुए। हर हाउज़ को महीने में एक हफ़्ता दिया जाता था, जिसमें सनीचर को हाउज़ों के बीच मुक़ाबला आयोजित करने का काम, रोज़ के अनुशासन की ज़िम्मेदारी, बुलेटिन बोर्ड (जो बरामदे में लगे हैं) पर तरह-तरह की सजावट, पेंटिंग, कहानी, नज़्म लगाने का काम वगैरा शामिल था। धीरे-धीरे बच्चे तो बच्चे, उस्ताद भी उत्साह की चपेट में आ ही गए। बच्चों के साथ मिलकर योजनाएं बनाना, मक़सद तय करना और चीज़ों को अंजाम तक पहुंचाने के सिलसिले शुरू हुए। उर्दू और हिन्दी हफ़्ते मनाए गए जिसमें अलग-अलग शायरों, कवियों के कलाम को ढूंढा गया, “समझा” गया, पेश किया गया और बुलेटिन बोर्ड पर भी लगाया गया। पेंटिंग बनाने, अलग-अलग मज़मूनों पर लेख लिखने के मुक़ाबले हुए।

अगर आप यह सोचते हैं कि मेरी मौजूदगी से कोई बड़ा नया और बेहतर कार्य इस तंत्र में शामिल हुआ होगा तो ऐसा नहीं है। हमारे अस्तादज़ा और बच्चों का अपना सोचा, समझा एक आम सा तरीका-ए-कार वुजूद में आया है जिसमें लचीलापन है कि ज़रूरत के हिसाब से इसमें बदलाव होते रहे।

## बच्चों की काउन्सिल

शुरु में बच्चों की “हुकूमत” की कोशिश यह सोचकर की कि बच्चों की आवाज़ स्कूल के चलने में शामिल हो सकेगी। लेकिन इस मंज़िल की तरफ़ अभी हम पहला ही क़दम उठा पाए हैं। जब यह तजवीज़ हुई कि बच्चों की काउन्सिल होनी चाहिए तो सभी इसके लिए रज़ामंद थे। हमारे यहां बच्चों की काउन्सिल चुनने का तरीक़ा तो बड़ा लोकतांत्रिक है। बाक़ायदा नामांकन पत्र बच्चे भरते हैं फिर अपनी नीति या प्रोग्राम के बारे में सुबह की सभा में बताते हैं। सवालियों के जवाब तो देते ही हैं, बाक़ायदा प्रचार का वक़्त भी दिया जाता है। प्रचार के अपने नियम तय किए गए हैं कि कोई भी उम्मीदवार प्रचार पर बीस रुपये से ज़्यादा ख़र्चा नहीं करेगा, वगैर। उम्मीदवार अलग-अलग कक्षाओं में जाकर प्रचार करते हैं और फिर अलग-अलग पदों के लिए चुनाव होते हैं। कुछ पद हैं- हैड गर्ल, हैड बॉय, कल्चरल सैक्रेटरी, अनुशासन सैक्रेटरी, खेल सैक्रेटरी वगैर। चुने गए बच्चे 15 अगस्त को शपथ लेते हैं कि उन्होंने जो वायदे किए थे उन्हें पूरा करने की कोशिश करेंगे। उसके बाद उन्हें कमीज़ पर लगाने के लिए बिल्ले दिए जाते हैं। दो साल तक तो सरकारी मशीन की तरह, गाड़ी बस यहां आकर रुक सी गई। उन्हें काम में, फ़ैसलों में शामिल करने की कोई ख़ास कोशिश भी नहीं हुई। जबकि बच्चे ने तो अपने ओहदे का मान रखने की पुरज़ोर कोशिश की। उनकी ज़बान में कहें तो, “मैम, हम तो चाहते हैं कि हमारा स्कूल बदले, बाहर के लोग नाम सुनकर नाक न सिकोड़ें, कहें अरे भाई उस स्कूल के हो। हम तो कोशिश कर रहे हैं। यह देखा आपने, लाल गेरू से गमले तक रंगे हैं हमने, अपनी टीम बनाकर देखिए मैम, कितनी सफ़ाई की है। कुछ बच्चों ने चार्ट पोस्टर वगैर भी बनाए हैं।” इसके अलावा डिसिप्लिन इंचार्ज बच्चे ने अपनी टोली बनाई और देर से स्कूल पहुंच रहे बच्चों को समझाना-बुझाना और डराना-धमकाना भी शुरू किया। उनके हिसाब से, “देर से आने वाले बच्चों की तादाद आधी से भी कम हो गई है।” यह तमाम चीज़ें बच्चे ही कर रहे थे। इसमें टीचर और स्कूल का कोई ख़ास साथ नहीं था। न ही उनकी कोशिश और जद्दोज़हद का ख़ास एहसास था।

अब कई साल गुज़रने के बाद बच्चों की काउन्सिल को स्कूल की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में ज़्यादा जगह मिल पाई है। इसकी एक वजह यह भी है कि स्कूल में सरगर्मियां ज़्यादा बढ़ गई हैं और बच्चों को शामिल किए बगैर बहुत से काम अंजाम तक नहीं पहुंच पाते हैं। हाल में अलग-अलग कक्षाओं के बीच आदिल मैमोरियल क्रिकेट टूर्नामेंट आयोजित हुआ जिसमें हमारे खेल सैक्रेटरी बच्चे ने अपनी टीम के साथ काफ़ी मेहनत-मशक़त की।

इस बार चुनी हुई पलटन के अलावा, बच्चों के एक समूह ने जो अलग-अलग कक्षाओं से थे, यह आग्रह किया कि वे स्कूल के लिए काम करना चाहते हैं। टीचर की एक कमेटी जो चुनाव करवाती है और यह कोशिश करती है कि बच्चों की हिस्सेदारी स्कूल की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में रहे, उन्होंने इस गुज़ारिश को खुले हाथों कुबूल किया। बच्चों के इस समूह ने लगातार एक सामानांतर काउन्सिल की तरह काम किया जबकि चुने गए अध्यक्षों को ऐतराज़ भी हुआ, एक ने तो काफ़ी गुस्सा-गर्मी भी की। लेकिन इन्होंने स्कूल में अपने लिए अलग काम ढूंढ लिया और खूब दिल-जान लगाकर किया। सनीचर को हाउज़ पीरियड के दौरान कई तरह के कार्यक्रम बखूबी आयोजित किए जैसे 14 नवम्बर यानी बाल दिवस के लिए नाटक पेश किया जो कि नेहरू और इन्दिरा के रिश्ते के बारे में था। यह बनाने और पेश करने में उन्होंने इतिहास की टीचर की मदद ली थी। इसके अलावा सामान्य ज्ञान क्विज़, बॉली क्विज़ वगैर भी आयोजित किए।

एक दिन इंचार्ज टीचर ने इस ग्रुप से मेरी बातचीत करवाई जो यहां पेश है।

शाहज़ेब - हम चाहते हैं कि स्कूल के लिए कुछ करें ताकि बाहर जाकर खुश होकर कह सकें कि हम स्कूल के हैं।

आक़िब - अभी तो बताते हैं तो यह रिएक्शन होता है, “अच्छा भई उस स्कूल में हैं”।

अनस - अभी पहले से तो बहुत फ़र्क है लेकिन क्यों न लेवल 100 परसेन्ट हो।

सुबूई - सबको ओपोरचुनिटी (Opportunity) देनी चाहिए, असेम्बली में नए बच्चों को आगे आना चाहिए।

- शाहज़ेब - तब ही तो स्टेज फ्राइट (Stage fright) कम होगी। इसलिए हम नए-नए बच्चों को स्टेज पर लाने का काम कर रहे हैं।
- सितवत - प्रिंसिपल साहब ने हमारे कहने पर नई दरियां खरीद ली हैं। बहुत से बच्चे इस वजह से सनीचर के प्रोग्राम में भी नहीं आते थे कि फटी दरियों पर बैठना पड़ेगा।
- आकिब - इतनी फटेहाल थीं कि दरियों में छेद नहीं बल्कि छेदों में दरियां थीं।
- शाहज़ेब - हम टीचर और बच्चों के बीच ब्रिज का काम कर रहे हैं ताकि उनमें अच्छे ताल्लुकात हों।
- मैं - क्यों, अच्छा रिश्ता नहीं है क्या?
- शाहज़ेब - मैम, कहना तो नहीं चाहिए, एक हमारे सीनियर सर हैं, भेड़-बकरियों जैसा सलूक करते हैं बच्चों के साथ।
- मैं - कैसे?
- अनस - नाम से नहीं पुकारेंगे। कहेंगे ऐ लड़के, ऐ लड़की, क्या कर रिया है बे तू? कट ले। ऐसे बोलते हैं।
- सुबूर्द - ऐसी बात नहीं है, ज़्यादातर टीचर दिल से बात करते हैं। अब हमारा काम देखा है तो खुद से आकर भी पूछ लेते हैं कि क्या सोचा है, इस बार सनीचर को क्या करना है। अच्छा लगता है।
- आकिब - देखिएगा मैम, इंशाअल्लाह स्कूल को बदल कर जाएंगे।
- शाहज़ेब - और एक टीम भी छोड़कर जाएंगे जो हमारे जाने के बाद स्कूल के लिए काम करेगी। तैयार कर रहे हैं हम बच्चों को, बस देखती रहिए आप तो मैम।

इस मुलाकात के बाद एक दिन शाहज़ेब मियां का शिकायती फोन आया। शिकायत प्रिंसिपल साहब की थी! कहना था, ‘मैम, खुद उन्होंने हमसे कहा था कि कोई भी काम करो तो लाकर दिखाना। ग्रुप में से सब हमें आगे कर देते हैं। हम गए तो (उन्होंने) कहा, ‘ऐसे ही आते रहते हो, तंग करते हो, भागो। अब बताइए मैम, ऐसे बेइज्जती होगी तो हम क्यों काम करेंगे? नाम के लिए तो कर नहीं रहे हैं, क्योंकि बारहवीं में हैं तो कुछ दिन में स्कूल खत्म।’

जैसे-जैसे स्कूल में सरगर्मियां बढ़ी हैं, वैसे-वैसे हमारे बच्चों के स्कूल को बदलने के हौसले भी बुलन्द हुए हैं। उम्मीद के नए चिराग जले हैं कि स्कूल और बेहतर हो जाएगा। एक और चीज़ की तरफ मैं आपकी तवज्जह चाहूंगी। सुबूर्द और शाहज़ेब का यह कहना कि नए बच्चों को मौके देने का काम कर रहे हैं, यह बताता है कि ढांचे खड़े होने जरूरी हैं। बारीकियां, जैसे सभी को शामिल करना, अपने आप राहें निकलती जाती हैं। बच्चों को ज़रा देखिए अपनी खुदमुख्तारी पर कितना यकीन है। बस अगर ज़रा कदम रखने की जगह मिल जाए तो रास्ता बना लेने का हौसला रखते हैं हमारे बच्चे।

## मिर्ज़ा महमूद बेग गज़ल सराई मुकाबला

इस मुकाबले की तजवीज़ टीचर हज़रत की तरफ से ही आई थी। मैं चाहती थी कि कोई ऐसा प्रोग्राम स्कूल में आयोजित करें ताकि और स्कूलों के बच्चे हमारे स्कूल में आएंगे। हमारे बच्चों को भी और स्कूलों में जाने का मौका मिले। वह तरह-तरह के बच्चों और लोगों से मिल पाएं और दुनिया के बारे में अपनी समझ बना पाएं। जब अध्यापकों ने गज़ल मुकाबले की राय रखी तो वह स्कूल के परिप्रेक्ष्य को देखते हुए कबूल कर ली गई। मुकाबले में अव्वल आने वाली टीम को (रनिंग ट्राफी) दी जाती है जिसका नाम स्कूल के एक शुरुआती मैनेजर जिन्होंने स्कूल के लिए काफी खिदमत अंजाम दी थी, उनके नाम पर रखा गया।

पहली बार, हमने काफी जोर-शोर और तैयारी के साथ इसका एहतमाम किया। शायद आठ स्कूलों ने इस मुकाबले में हिस्सा लिया था। मुकाबले के उसूल जो तय किए गए, उनमें शामिल हैं कि हमारे स्कूल के बच्चे इसमें शिरकत तो करेंगे लेकिन इनाम उन्हें नहीं दिया जाएगा। कोशिश यह रही कि ज़्यादा से ज़्यादा बच्चे को सराहा जा सके और

इनामात से नवाज़ा जा सके। अगले दो साल बाहरी स्कूलों की शिरकत खासी कम रही। हम कुल छः-सात स्कूलों को ही बुला पाए। इस बार तो लेकिन कमाल ही हो गया! हमारे स्कूल के अलावा 26 स्कूलों ने मुक़ाबले में हिस्सा लिया। यह करिश्मा हमारी नई सांस्कृतिक कार्यक्रमों की इंचार्ज टीचर का था। उनकी टीम की पुरज़ोर कोशिश से इतने सारे- सरकारी, गैर-सरकारी और सरकारी मदद से चलने वाले - स्कूलों ने इसमें हिस्सा लिया। गज़ल, शैरो-शायरी तो हमारे स्कूल की संस्कृति का हिस्सा रही है लेकिन इस जलसे के बहाने हमारे टीचर और बच्चों को तरह-तरह के बच्चों से रूबरू होने का एक मौक़ा भी मिला।

चलिए इस बहाने आपको अपने स्कूल की तहज़ीब, जो अब कहीं गुल होती जा रही है, की एक झलक दिखाई जाए। हमारे यहां अब भी कई अस्तादज़ा हैं जो बेहतरीन उर्दू बोलते हैं। बल्कि कई बार-यहां के अदब-आदाब देखकर मुझे अपनी गुर्बत का अंदाजा होता है। अब भी हमारे यहां बैतबाजी या शैरो-शायरी का माहौल तो है ही। इस बार मुक़ाबले में महमान-ए-खुसूसी स्कूल के पुराने प्रिंसिपल मंज़ूर उस्मानी साहब थे। कई और पुराने साथी हमारी इस महफ़िल की शान बने। उर्दू अदब की इस महफ़िल जहां के अदब-आदाब, मज़ाक का अंदाज़ सब निराले थे, इनकी यहां एक झलक पेश है।

मुझे इस दिन जामिया में काम था इसलिए प्रोग्राम शुरू होने के बाद पहुंची। देखा मंज़ूर साहब तशरीफ़ फ़रमा हैं, उन्होंने मुझे आते हुए नहीं देखा। ज़रा देर गुज़री थी, देखा बुजुर्गवार उठे चले आ रहे हैं। मैं आदाब करते हुए खड़ी हुई और वह आकर मेरे पास सोफ़े पर बैठ गए। बोले, “नज़रें आप ही को ढूंढ़ रही थीं।” इतने में मौहल्ले के एक साहब आए, उनसे हाथ मिलाया और कहा, “माफ़ कीजिएगा, मैं आपको पहचाना नहीं, अब आपने दाढ़ी जो रख ली है।” मंज़ूर साहब ने हंसते हुए कहा, “गोया अब आपके-हमारे बीच में यह दाढ़ी आ गई।” जब वह साहब उठकर जाने लगे तो मुझसे बोले, “अठारह-बीस साल पहले अच्छा ख़ासा जवान हुआ करता था यह।” बाद में ऐसे ही किसी सिलसिले में बात हुई, मैंने कहा, “मैं किताब लिखना चाहती हूं। लेकिन यूनिवर्सिटी और स्कूल से फ़ुरसत ही नहीं मिल पाती है।” बोले, “उसके लिए तो आपको बुढ़ापे का इन्तज़ार करना होगा।” बताया कि रिटायरमेंट के बाद वह कई किताबें लिख पाए हैं। फिर कहा इसीलिए अकसर मैं यह शेर पढ़ता हूं:-

“आ बुढ़ापे तेरे चेहरे की बलाएं ले लूं  
तुझको पाया है मेरी जान जवानी देकर”

अपना यह शेर सुनाकर हंस दिए। जब मुक़ाबला ख़त्म हुआ तो हमारे एक टीचर जो जलसे की अगुवाई कर रहे थे बोले, “आपने फ़रिश्ता सिफ़त इन बच्चों को और इनकी आब-ए-कौसर से धुली आवाज़ों को सुना। अब मैं बहुत इज़्जत और एहताराम के साथ मंज़ूर अस्मानी साहब को दावत देता हूं कि वह यहां तशरीफ़ लाएं और अपने तास्सुरात से हमें नवाज़ें।” मंज़ूर साहब ने मुक़ाबले के मयार के बारे में बात करते हुए कहा, “रहम आता है जजैज़ हज़रात पर के किस आफ़त में मुबतला हो गए।” और फिर नतीजों के ऐलान से पहले, बच्चों की हिम्मत अफ़जाई करते हुए कहा, “भई, सबसे बड़ी बात यह है कि सभी ने बहुत उम्दा गाया। जब हम पहली बार स्टेज पर आए थे तो दिल इतनी ज़ोर से धड़क रहा था कि कानों को आवाज़ आ रही थी।”

इस महफ़िल के आदाब आज के दौर में कुछ नापैद से होते हुए मालूम होते हैं। इस प्रोग्राम के ज़रिए बच्चों को ही नहीं मुझे भी तहज़ीब के इस झरोखे में झांकने का एक मौक़ा मिला। इसने यह सोचने पर भी मजबूर किया कि हमने लोगों और ज़बानों को किस बेदर्दी से हाशिये पर डाल दिया है। अगर हम खुद इस तहज़ीब और ज़बान से बेरुख़ी न दिखाते तो क्या बेहतर हाल में होते? न तो मुसलमान अपने-आपमें एकरूप श्रेणी है और न ही इनकी तहज़ीब एक जैसी है। इस तरह के उर्दू अदब-आदाब से ताल्लुक़ रखने वाले बेशतर लोग कुलीन या मध्यवर्ग से ताल्लुक़ रखते हैं लेकिन फिर भी यह तहज़ीब और जुबान हाशियों में गुल हो गई। ज़्यादातर मुसलमान इसे अपनी ज़बान करार तो देते ही हैं चाहे वह वाक़ई इनकी ज़बान हो या नहीं। इन लोगों के साथ-साथ क्या यह ज़बान भी हाशियों की रौनक बन

गई। क्या कभी यह ज़बान इन बच्चों की हिम्मत और राह बन पाएगी? या इनके लिए कुलीन वर्गों के तौर-तरीके ज़बान अपनाना ही बेहतर होगा? वैसे भी इस “उर्दू स्कूल” में भी इसे कायम रखने वाले चंद चिराग़ ही मौजूद हैं।

## स्कूल असैम्बली

जैसे कि मैंने अपने पिछले एक लेख में लिखा था कि शुरू में जब टीचर हज़रात से असैम्बली के सिलसिले में दरखास्त किया तो पता चला कि शिक्षा महकमे के हिसाब से चल रही है। जी, शिक्षा विभाग ने इस बारे में भी तजवीज़ कर डाली थी जिसे हमने हुकुम मानकर अपने ऊपर थोप रखा था। या यूँ भी कह सकते हैं कि एक आसान रास्ता जिसमें टीचर हज़रात की उदासीनता बरकरार रह सके उसे इख़तियार कर लिया गया था। मेरे इल्तिजा करने पर हमारी एक टीचर और उनकी टीम ने ब्यौरा उठाया। असैम्बली का वक़्त अब हमारे बच्चों के लिए एक नया मौक़ा लेकर आया है। सभी कक्षाओं के बच्चे और इनके टीचर बारी-बारी अपनी कक्षा का प्रोग्राम प्रस्तुत करते हैं। शर्त बस यह है कि ज़्यादा से ज़्यादा बच्चों की इसमें हिस्सेदारी हो। नए नवेले प्रोग्राम बच्चे बड़े शौक से प्रस्तुत करते हैं। ज़्यादातर कक्षाओं के टीचर अपने बच्चों की तैयारी में मदद करते हैं। असैम्बली के वक़्त अब स्कूल और मौहल्ले की ख़बरें, नाटक, गीत, नात शेर तो पेश हुए ही हैं। एक दिन सातवीं कक्षा के 15 बच्चों ने कुरान शरीफ़ की एक बड़ी आयत का अंग्रेज़ी में बेहतरीन तरज़ुमा पेश किया। माइक़ पर अंग्रेज़ी बोल पाने ने जो खुशी और हिम्मत इन बच्चों को बख़्शी वह देखने वाली थी। यकीन मानिये खुशी से झूम रहे थे।

हमारी टीचर इंचार्ज का कहना है, “मैम, ऐसे नए-नए टेलेंट निकल कर आ रहे हैं कि मत पूछिए। ऐसे-ऐसे बच्चे माइक़ पर बोलते हैं कि जिनकी क़त्तास में कभी आवाज़ ही नहीं सुनी।”

एक दिन एक और टीचर ने ख़बर दी कि, “बच्चे स्कूल वक़्त पर आने लगे हैं। अब तो कुछ ही बच्चे हैं जो वक़्त पर स्कूल नहीं पहुंचते। बच्चे कोशिश करते हैं कि वक़्त पर स्कूल पहुंचें ताकि असैम्बली में मौजूद रहें।”

## स्कूल मैगज़ीन

इसकी शुरुआत यह सोचकर हुई कि बच्चों की अभिव्यक्ति को एक और जगह मिलेगी। फ़िलहाल हमारे बच्चों में और उनके उस्तादों में कम ही हिम्मत है कि वे खुद के लिखे लेख छापें। धीरे-धीरे एक सोच-समझ बन रही है कि किस तरह के लेख मैगज़ीन में जा सकते हैं। वैसे तो काफ़ी उस्ताद भी बड़े उत्साह से इसके लिए लिखते हैं लेकिन इसकी गुणवत्ता में अभी बेहतरी की गुज़ांइश है। पिछले चार साल से यह छप रहा है, मुझे तो यह ही इसकी बड़ी कामयाबी लगती है। आइंदा और बेहतर हो पाएगा। इसके द्वारा स्कूल को साल भर की गतिविधियों के बारे में सोचने का भी एक अच्छा मौक़ा मिलता है क्योंकि मैगज़ीन का एक अहम हिस्सा स्कूल रिपोर्ट भी होती है। साथ ही इस रिपोर्ट से ये भी ज़ाहिर होता है कि हमारी जवाबदेही वालदैन और समाज की तरफ़ है।

## वालदैन-टीचर कार्यकारिणी कमेटी

स्कूल के बच्चों के सभी वालदैन और टीचर ने मिलकर यह चौदह-मेम्बर की कार्यकारिणी समिति चुनी थी। इसमें बराबर तादाद में टीचर और वालदैन शामिल थे। अपने दो साल के अरसे में इसने स्कूल को अच्छा ख़ासा झिंझोड़ने का काम किया। इसमें तीन वालदैन-मेम्बर काफ़ी हरकत में रहे। यह तीनों स्कूल से पुराने तालिबे-इल्म रहे थे और अब इनके बच्चे हमारे स्कूल में पढ़ रहे हैं। इन मेम्बर के नाम थे अहमद दीन साहब जो कमेटी के उप-सभापति थे और स्कूल की मैनेजिंग कमेटी के भी मेम्बर थे, नाहीद साहिबा जो सैकरेटरी थीं और आइशा साहिबा। यह और इनके अलावा कई और मेम्बर या अध्यक्षों ने अपने दो साल के अरसे में काफ़ी बार स्कूल स्टाफ़ के साथ मीटिंग बुलाई। यह बैठकें हमारे टीचर हज़रात के लिए काफ़ी भारी रहीं। इन बैठकों में संतुलन बरकरार रखने का और वालदैन की आवाज़ को जगह और इज़्जत देने का काम मेरा रहा। यहां मैं सत्ता का या यूँ कहिए अपनी कुर्सी का एक अच्छा



इस्तेमाल देखती हूँ। यह तो मुझे बखूबी एहसास है कि सत्ता से मलबूस समझी जाने वाली कुर्सी पर बैठकर बोलने का मतलब है कि आपकी आवाज़ में वज़न है। इसका इस्तेमाल मुझे बहुत नहीं करना पड़ा जैसे शुरुआती तक्रार के अल्फ़ाज़ों में कैसे मैंने इसका इस्तेमाल किया आप भी देखें:

“मैं स्कूल की, टीचर हज़रात की और प्रिंसिपल साहब की तरफ़ से आप सबका इस्तक़बाल करती हूँ। हम सब जो यहां मौजूद हैं वह सिर्फ़ एक फ़िक्र लेकर यहां जमा हुए हैं के हम बच्चों की बेहतर से बेहतर तालीम का बन्दोबस्त कर सकें। इस बात की स्कूल में सबको बेहद खुशी है कि इस कमेटी के मैम्बर में स्कूल के ही पुराने तालिबे-इल्म शामिल हैं, जिसमें कई माएं हैं। मुझे इस बात की और ज़्यादा खुशी है कि यह मीटिंग वालदैन की तरफ़ से बुलाई गई है। मैं इसके लिए आपकी बहुत शुक्रगुज़ार हूँ।...

मैं यह कहना चाहूंगी कि अपने बच्चों को इस स्कूल में भेजने का मतलब हम पर भरोसा करना भी है। यह हम पर बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी डाल देता है और हमारी वालदैन की तरफ़ जवाबदेही बनती है। अगर आप कभी भी हमारी तरफ़ से कोई कोताही या कमी देखें तो मीटिंग में या वैसे भी हमारी तवज़्जह इस तरफ़ ज़रूर दिलाएं। हम सबके फ़ोन नम्बर तो आपके पास हैं ही। मीटिंग के अलावा भी आप लोग स्कूल तशरीफ़ लाएं, क्लासों में बैठें, देखें स्कूल आपके बच्चों को पढ़ाने का कैसा काम कर रहा है।...

सिर्फ़ यह अल्फ़ाज़ तो सूरतेहाल नहीं बदल सकते लेकिन मैंने इस कमेटी की हिम्मत अफ़जाई करने में और आवाज़ को जगह देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इनकी अपनी खुदमुखतारी ने भी एक अहम रोल अदा किया है इन्होंने लगातार स्टाफ़ के साथ मीटिंग की दरखास्त रखी और बैठकें बुलाई। इन बैठकों में जब हम सफ़ाई के तौर पर अपनी पिछले सालों से बेहतर पास परसैन्टेज की बात करते थे तो वह गुणवत्ता की दुहाई देते हैं और बेहतर नम्बरों पर सवाल उठाते थे। कहते थे, “यह बताइए ऐसे पास होने से फ़ायदा क्या हुआ, कितने बच्चे कॉलेज पहुंच पाएंगे।” या फिर, “बहुत से जो ज़्यादा कमज़ोर बच्चे हैं उनका अन्दाज़ा तो आपको पहले से हो जाता होगा तो फिर उनके लिए कुछ करते क्यों नहीं?” टीचर कई बार बग़ले झांकते नज़र आते या फिर जवाबी हमला करते, “इतने बच्चे ग़ैरहाज़िर रहते हैं, देर से स्कूल आते हैं, इस बारे में कुछ कीजिए, फिर हम रिज़ल्ट भी लाकर दिखा देंगे।” कमेटी के मेम्बर अकसर स्कूल भी आने लगे, यहां तक कि क्लासों में भी जाते। शुरू सालों में कक्षाएं नियमित रूप से लगने में समिति की फ़िक्र से काफ़ी मदद मिली। कभी प्यार से कभी टकरार से मामला चलता रहा। कई टीचर अपनी जवाबदेही से कुछ घबराए भी नज़र आए। मुझसे कहा भी कि, “यह तो बड़ा मुश्किल होता जा रहा है।” मैंने आश्वासन दिया, “भई हम तो अपना काम ठीक कर रहे हैं तो फ़िक्र कैसी?” एक दिन हमारे प्रिंसिपल साहब को शिक्षा महकमे का फ़रमान याद आ गया। फ़ोन आया कि इस समिति की अवधि बस दो साल होती है और अब दोबारा चुनाव करने होंगे। यह नहीं है कि हमने सभी फ़रमानों को सर आंखों पर लिया हो लेकिन उस वक़्त बेख़याली में मैंने हामी भर दी। यह बेख़याली काफ़ी भारी पड़ी। दूसरी समिति में न वह फ़िक्र थी न ज़ुबा। क्या करते ग़लती की भरपाई इस तरह की कि पुराने सब लोग अब स्कूल इन्तज़ामिया कमेटी जो शिक्षा के अधिकार कानून 2009 के तहत बनाई गई है, उसमें शामिल कर लिए गए हैं। अभी इस पर काम कम ही हो पाया है। कभी और इस बारे में लिखूंगी।

खैर, इससे यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि वालदैन की फ़िक्र और स्कूल में दख़ल हमें उदासीनता से झिझोड़ने और अपनी ज़िम्मेदारी का एहसास कराने में अहम रोल अदा करता है। यह एहसास भी होता है कि बच्चों की तालीम का काम समुदाय और स्कूल को मिलकर ही करना है। साथ ही एक नया इज़्जत और एहताराम का रिश्ता बनने की शुरुआत होती है। वालदैन भी समझ पाए हैं कि स्कूल अपनी सी कोशिश कर रहा है और वे अपनी भूमिका भी बेहतर रूप से समझ पाए हैं। इस तरह स्कूल एक सार्वजनिक इदारे के रूप में उभरा जिसमें सभी हितधारकों (स्टेकहोल्डर्स) की हिस्सेदारी और जवाबदेही बनती है। स्कूल एक बंद और कुलीन-पुजारी जगह से एक ज़्यादा लोकतांत्रिक जगह बनती दिखाई दी जहां सामाजिक-आर्थिक रूप से कमज़ोर तबक़ा ज़्यादा ताक़तवर तबक़े से जवाबदेही मांग सकता है।

## बाकी काम और समितियां

ऊपर दिए गए कामों और समितियों के अलावा कुछ और कोशिशें भी रही हैं। हमारी एक अहम कोशिश परामर्श सिस्टम की शुरुआत रही। हमारे बच्चे मार्गदर्शन के लिए स्कूल ही की तरफ देख सकते हैं। इसलिए हमने दसवीं और बारहवीं के तीन-तीन बच्चों को एक टीचर के सुपुर्द कर दिया। कोशिश यह थी कि वह बच्चे की सामाजिक स्थिति देखते हुए पढ़ाई-लिखाई में मदद के अलावा संवेदनशीलता से एक भावुक और मनोवैज्ञानिक रिश्ता बना पाएं। बच्चे की हिम्मत बंधाएं और स्कूल की तरफ से मदद में आसानी पैदा करें। इस कोशिश से कुछ हुआ हो या नहीं, टीचर कम से कम बच्चों के परिप्रेक्ष्य से वाकिफ़ तो हुए ही हैं। कई ने बताया भी, “भई, इमरान के घर का काफी तकलीफ़दे हाल है, उसके बाप मज़दूरी करते हैं”। इस तरह बच्चों और टीचरों के बीच एक बेहतर रिश्ता बनने की शुरुआत तो हुई है।

हमारे यहां स्वतंत्रता दिवस, टीचर्स डे, बालदिवस वगैरा भी काफी जोर-शोर से मनाए जाते हैं। स्वतंत्रता दिवस के दिन हमारी बच्चों की काउन्सिल भी शपथ लेती है। इस सरगर्मियों के अलावा और भी कई तजुरबे हमने किए। जैसे तारीख़ का क्लब बनाया गया था और हमारे बच्चों के एक समूह ने एक्टिव नागरिक क्लब बनाया था। यह तजुरबे, अफ़सोस जारी नहीं रह पाए लेकिन हमें बहुत कुछ सिखा गए। कभी इनका भी ज़िक्र करूंगी।

## “आम” सी सरगर्मियों के गहरे नताइज

आपने देखा कि ऊपर दी गई सरगर्मियां किसी भी आम स्कूल के दस्तूर और पाठ्यक्रम का हिस्सा हो सकती हैं। क्योंकि यह सोचा था और अस्तादजा से कहा भी था कि, “मैं नए तरीके-दस्तूर थोपना नहीं चाहती हूं, हमें मिलकर ही फैसले लेने हैं और राह निकालनी है।” ऊपर दर्ज सरगर्मियां हमारे मिले-जुले फैसलों के तहत ही शुरू की गईं। इन सरगर्मियों को करीब से देखने पर ढांचे और खाके बदलने का एहसास होता है।

यह तो मैंने अपने कई लेखों में कहने की कोशिश की है कि हमारे स्कूल में एक घुटा हुआ उदासीनता का माहौल महसूस होता था। अगर अपने एक टीचर के अल्फ़ाज़ इस बारे में दर्ज करूं तो, “सालाना जलसे का तसच्चुर भी गुनाह अज़ीम था। लब कुशाई पर पाबंदी थी। अगर ज़्यादा कहा तो ताने दिए जाते थे। एक मोहतरम तो ऐसे में फ़ेयरवैल के भी कायल नहीं थे। मैंने पूछा, “आख़िर क्यों नहीं होना चाहिए” तो मुझसे कहने लगे, “मियां, अभी तुम नए हो। बाद में सब कुछ समझ में आ जाएगा। ये सब दर्दे सर की चीज़ें हैं। आओ, वक़्त पूरा करो, घर जाओ।” मैं सोचता भला यह भी कोई ज़िन्दगी है, वही सब लोग हैं। (चंद को छोड़कर) जोश ज़ब्बे के साथ चौथा सालाना जलसा मुनअकिद हो रहा है। ख़ूब पज़ीराई हो रही है। बच्चे भी खुश हैं, वालदैन भी फ़ख़र कर रहे हैं। अस्तादजा भी नाज़ां हैं।”

ऊपर दिए गए अल्फ़ाज़ हमारे दो टीचर ने मिलकर एक लेख लिखा है, उसमें से लिए गए हैं। वे अकसर मुझसे कहते थे कि, “मैम, स्कूल तो बहुत बदल गया है”। इस पर मैंने एक दिन कहा कि वह मुझे लिखकर बताएं कि स्कूल किस तरह बदला है।

इन तमाम सरगर्मियों के ज़रिए हमें स्कूल में छाई उदासीनता को ख़त्म करने का नुस्खा ज़रूर मिल गया। अध्यापकों को स्कूल के चलने में अपनी हिस्सेदारी का एहसास है। शुरुआत में जहां स्कूल का चलना बस फ़ाइलों के सफ़र और कक्षाओं के लगने (या न लगने) से जुड़ा था वहां जोश और उत्साह नज़र आता है। बच्चों को अभिव्यक्ति के मौके मिले हैं। जहां ज़्यादातर टीचर को यह एहसास था और यह बहुत हद तक सच भी था कि, “स्कूल तो बस तीन लोग चलाते हैं। वह जो चाहे कर सकते हैं”, वहीं उन्हें यह एहसास है कि स्कूल की गतिविधियों में उनका दख़ल और योगदान है। एक और उस्ताद के हिसाब से, “इससे क़ब्ल भी कमेटियां थीं मगर कागज़ पर थीं। तस्कीने दिल के लिए। अम्ल-दर-आमद नहीं था। चंद लोगों के हाथों में आलम घूमता था।”

यह मेरी कोशिश रही है कि सभी लोगों को मौके दिए जाएं उनकी छोटी-छोटी कोशिशों को सराहा जाए। जहां मदद या फिर तबादला-ए-ख्याल की ज़रूरत हो वहां वो फ़राहम करने की कोशिश की। नए लोगों को मौके देने से श्रेणीबद्ध ढांचे की शकल कुछ बदली सी महसूस होती है। लोगों को हिम्मत मिली है अपनी बात कहने की और काम संभालने की। इस बार कई टीचर ने, जो बड़े जोश से एसयूपीडब्ल्यू (SUPW) का काम बच्चों से करवाती हैं, चाहा कि काम की नुमाइश सालाना जलसे के दिन लगाई जाए। मैंने उनकी इस तजवीज़ का इस्तक़बाल किया। नुमाइश को वालदैन और मेहमानों ने काफ़ी सराहा। जब मैंने उन्हें मुबारकाबाद दी तो उनमें से एक टीचर जो सामाजिक विज्ञान पढ़ाती हैं बड़े मज़े में बोलीं, “जब कोने में पड़े लोगों को मौका मिलता है तो ऐसे ही बाढ़ आती है।” मैंने मज़ाक़ में कहा, “आप हाशियेबंदी के बारे में बच्चों को पढ़ाती हैं, खुद इससे उभरने के सुराग नहीं ढूँढ़ पाई?” बोली, “हां मैम, हम खुद बरसों से हाशिये पर पड़े थे, कोई हमारी तरफ़ देखने वाला ही नहीं था, अब जाकर कुछ हिम्मत बंधी है आगे बढ़ने की।” स्कूल के कामों में भागीदारी के हिसाब से देखें तो वाकई प्रिंसिपल समेत बस तीन-चार लोग ही थे जिनकी आवाज़ सुनी जाती थी, उनकी मर्ज़ी से फ़ैसले होते थे और स्कूल चलता था या यूँ ही बैठा था। आज सूरते हाल बदला है।

अध्यापकों को उनकी रुचि के हिसाब से अलग-अलग समितियों में डाला गया है। बहुत-सी या ज़्यादातर समितियों में नए लोगों को मौके मिले हैं, जैसे- टाइम टेबल समिति, इम्तिहान समिति, सांस्कृतिक कार्यक्रम समिति, असेम्बली समिति, अकैडमिक समिति वगैरा। बहुत-सी समितियों ने बेहतरीन काम भी किया है। जैसे, इस बार सांस्कृतिक कार्यक्रमों की इंचार्ज टीचर की वजह से छब्बीस स्कूलों ने गज़ल सराई मुक़ाबले में हिस्सा लिया। नए लोगों ने मौके का फ़ायदा उठाया और जताया कि वह भी अच्छा काम कर सकते हैं। अब तीन की बजाय कम से कम तीस लोग हैं जो उत्साह से अपना योगदान स्कूल की विभिन्न गतिविधियों में दे रहे हैं। एक टीचर का कहना है, “मैम, आज हरेक की एक वैल्यू (value) है हरेक के पास काम है” बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि स्कूल में सरगर्मियां बढ़ी हैं तो लोगों को इनसे जुड़ने का मौका मिला है। लेकिन उन्हें हिम्मत की ज़रूरत रही है कि अपने काम को समझें और अपने तरीके से कर पाएं। धीरे-धीरे जब इन सरगर्मियों में छुपे बारीक संदेशों को समझ पाएंगे तो अपने आप इन्हें बदलने और संवारने की कोशिश भी करेंगे।

बहरहाल, मुझे महसूस होता है कि इन सरगर्मियों ने एक भागीदारी का एहसास दिया है। हम एक अल्पतंत्र से एक लोकतांत्रिक ढांचे की तरफ़ बढ़े हैं। ढांचे में बदलाव का एक और पहलू मैं आपके सामने रखना चाहूंगी। यह एक चक्रव्यूह की तरह की प्रक्रिया रही है। स्कूल में बमुश्किल कक्षाओं का लगना चल रहा था। पाठ्यक्रम में अभिव्यक्ति के मौकों की, सक्रियता, कार्यशीलता की शदीद कमी थी। इस सूरत में अपने-आपको कठहरे में खड़ा होने से बचाने के लिए इन्तज़ामिया को ज़रूरत थी उन सीनियर लोगों को खुश करने की जिनके पास उनकी समझ से सत्ता है। यह सत्ता चाहे उनके तज़ुरबे की बिना पर हो या फिर शिक्षा मकहमे और मैनेजमेंट से कुर्बत की वजह से हो या फिर अपने शऊर, तेज़ी-तर्रारी और दबंगता की वजह से हो। क्योंकि वे इन कुछ लोगों के कहने पर चल रहे थे तो बाकी स्टाफ़ से दूरी लाज़मी थी। ऐसी सूरत में सरगर्मियां होने का तसव्वुर भी मुश्किल था। अब जब प्रिंसिपल साहब और वाइस प्रिंसिपल को एहसास हुआ है कि मैनेजिंग कमेटी की प्रतिनिधि से यानी मुझसे कुछ भी छुपा नहीं है। उसके बावजूद मैं उनके साथ खड़ी हूँ, चीज़ों को समझ रही हूँ और हम एक मिला-जुला तसव्वुर बना पाए हैं। यानी जब स्कूल कुछ चलने सा लगा है तो इन्तज़ामिया में भी हिम्मत नज़र आती है गुटबंदी के बाहर क़दम रखने की और बाकी लोगों के काम को सराहने की। बल्कि मैं अब अपने प्रिंसिपल साहब को इसका एहसास भी दिलाती रहती हूँ यह कहकर, “प्रिंसिपल साहब आपकी मेहनत है कि स्कूल में इतना कुछ हो पा रहा है और आपकी टीम बड़ा अच्छा काम कर रही है।” ये मैं यूँ ही नहीं कहती। अगर आप समझते हैं कि स्कूल में कुछ हिला-डुला है तो इसका सहारा मैं दिल से प्रिंसिपल साहब को ही बांधना चाहूंगी जिन्होंने मेहनत में कमी नहीं छोड़ी। साथ ही मैं उन तमाम टीचर की शुक्रगुज़ार हूँ जिन्होंने ख़्वाब देखने और साकार करने की हिम्मत दिखाई। सवाल यह है कि क्या ये बदलाव जारी

रहेंगे? जल्द ही मेरी मैनेजर रहने की अवधि खत्म हो जाएगी। अब मैं कश्माकश में हूँ कि अगली टर्म में रहूँ या नहीं। प्रिंसिपल साहब से जब इसका जिक्र किया तो बोले, “मैम, आप एक टर्म तो और ले लें, वरना जारी रहना तो क्या, चीजें और पीछे चली जाएंगी।” उनका यह डर सही है क्योंकि हमारा तंत्र ही ऊपर से या एक तरफ़ से भारी भरकम है। यानी मैनेजिंग कमेटी के पास या शिक्षा महकमे के पास सत्ता है। इसमें से कितने अफ़सर हैं जो बारीकियों को और अंदरूनी हालात को देखते हुए फ़ैसले लेते हैं। लेकिन अध्यापकों की तरक्की, प्रिंसिपल की हिमायत करना, न करना सब उनके हाथ में है। इस तरह का तंत्र एक माइने में अल्पतंत्र को ही बढ़ावा देता है।

आज की बातें करें तो जब बच्चों और टीचर को साथ मिलकर काम करने के मौके मिले हैं तो इनके बीच एक बेहतर रिश्ता बनने की शुरुआत हुई है। ये एक-दूसरे के बल्कि कहना चाहिए कि टीचर बच्चों के आर्थिक सामाजिक हालात, योग्यताओं और क्षमताओं को जानने-सराहने लगे हैं। जैसे हमारी असैम्बली टीम की एक टीचर ने मुझे सुबह आने की दावत देते हुए बताया, “अरे मैम, ऐसे टेलेंट निकलकर आ रहे हैं, आप आकर देखिए तो ज़रा, यह वह बच्चे हैं जिन्हें हम ऐसा ही समझते थे कि कुछ नहीं कर सकते, आज नूर साहब की क्लास के बच्चों ने इतने मज़े में इंग्लिश में कलाम पाक का तरजुमा सुनाया। इतने कॉनफीडेंस से बोल रहे थे माइक पर।” एक दिन एक टीचर ने तो यहां तक कहा, “मैम, यह तो बच्चे ही अलग हैं, हमारे घर के बच्चों की तरह थोड़े हैं, जिन्हें हम ज़िन्दगी भर यूँ थामे रहते हैं” (हाथ के इशारे से बताया कि कैसे अपने बच्चों को हम गोद में लिए रहते हैं)। यानी जब साथ में तरह-तरह के काम करने के मौके मिले तो एक रिश्ता बन पाया और एक-दूसरे को जानने-पहचानने से रिश्ता ही कुछ बदल सा गया। इसी तरह एक टीचर से मैंने पूछा कि स्कूल के माहौल में वह किस तरह का बदलाव देखती हैं। कहा, “मैम, बच्चों की नज़रें बदली हैं। जिस तरह क्लास में हूटिंग करते थे, देखते थे, वह काफी बदला है।” यहां इन टीचर की मुराद लड़कों से है। इनके कहने का मतलब था कि लड़कों के अश्लील व्यवहार के दायरे में अकसर टीचर भी आ जाती थीं। अब जब रिश्ता बनने और एक-दूसरे को देखने-समझने की शुरुआत हुई है तो बहुत से नए मौके और आयाम उभर कर आए हैं, रिश्ते बनने के और एक-दूसरे को इज़्ज़त देने के।

जहां तक बच्चों का सवाल है, उन्हें स्कूल शायद अब कुछ अपना सा महसूस होने लगा है। इसका एक मज़ेदार सा सबूत मैं आपको देती हूँ। शुरू-शुरू में स्कूल की बेरंग-सूनी दीवारों के लिए बुलेटिन बोर्ड ख़रीदे। यह सालाना जलसे से पहले ख़रीदे गए थे। इन्हें ख़ूब सजाया गया। बच्चों के बनाए हुए पोस्टर, पेंटिंग, लेख वगैरा लगाए गए। स्कूल की रौनक ही इन बरामदों में लगे बुलेटिन बोर्ड से दोबाला हो गई। मैं तो खुश थी ही और स्कूल में आए मेहमानों को बड़े शौक से बच्चों का काम दिखाया। अगले दिन जब मैं स्कूल पहुंची तो सब बोर्ड ग़ायब। पूछा कि कहां गए, स्कूल की शान बढ़ा रहे थे। प्रिंसिपल साहब ने धीरे से कहा, “मैम, इन्हें तो बस इसी काम के लिए रखेंगे। कभी कोई तक़रीब हुई, कोई आया गया तो लगा दिए वरना उतार कर रख दिए। इतने जंगली बच्चे हैं, फ़ौरन फाड़ना-ख़राब करना शुरू कर दिया था। रेहान साहब ने सब लगाने में इतनी मेहनत की थी, क्या करते उतारकर कमर्शियल आर्ट रूम में रख दिए।”

मैंने कहने की कोशिश की कि, “बच्चों के लिए ही हैं, लगे रहने चाहिए थे, ऐसे ही तो बच्चे सीखेंगे।” लेकिन कोई फ़ायदा नहीं हुआ। एक साल यह ही सिलसिला चला, किसी मेहमान की आमद पर या किसी तक़रीब पर बोर्ड सजा दिए जाते थे और तक़रीब ख़त्म होने के बाद उतारकर बहुत हिफ़ाज़त से रख दिए जाते थे। ख़ैर, मेरे काफी कहने पर उन्हें लगाने की हिम्मत जुटाई। फिर शिकायत हाज़िर थी। सुनने में आया, “आप के कहने पर बोर्ड लगा दिए थे। काम तो फ़ाड़ा-ख़राब किया ही। बोर्ड तक फाड़ दिए कमबख़तों ने। जाहिल हैं मैडम, नहीं सुधर सकते।” यह सुनकर मैं भी गुमसुम हो गई। अजीब शर्मिंदगी का एहसास था। आगे की कहानी कुछ इस तरह है। जैसे-जैसे हमारे हाउज़ सिस्टम ने गर्मी पकड़ी यह सूरत ही बदलने लगी। हर हफ़्ते दस दिन में एक हाउज़ की बारी आती है बरामदों में लगे बुलेटिन बोर्ड पर अपना काम लगाने की। बच्चों के लेख, पेंटिंग वगैरा से भरे रहते हैं बोर्ड। एक टीचर के हिसाब से, “इतनी चीजें बनाकर लिखकर लाते हैं बच्चे कि समझ में नहीं आता कि कैसे सब लगा दो। अब इतनी

मेहनत करते हैं तो जगह बनानी पड़ती है लगाने के लिए।” यह बदलाव देखकर एक दिन मैंने तोड़-फोड़ के बारे में प्रिंसिपल साहब से पूछा। बोले, “अब कहां फाड़ते हैं। अगर एक पिन भी गिर जाता है तो उठाकर लगाते हैं। एक दिन मैं देख रहा था, एक पेंटिंग थोड़ी-सी फट गई थी। एक बच्चा जल्दी से टेप लाया, उसे चिपकाया।” इस तरह हम बच्चों को उनकी मिलकियत सौंप पाए हैं। जब बच्चों को चीजों का इस्तेमाल समझ में आएगा और वह इसे अपना समझेंगे-मानेंगे तब वे उसे खराब भला क्यों करेंगे। जब उनसे गैरियत बरती जाएगी, चीजें छुपाई जाएंगी, उस सूरत में वे यही करेंगे जो किया करते थे।

ढांचों में आया बदलाव कई बार मुझे जादू से कम नहीं लगता लेकिन जब बारीकियों पर गौर करती हूं तो लगता है कि यह यूं ही मुमकिन नहीं हुआ है। अल्पतन्त्र से लोकतांत्रिक ढांचे बनने में जब सत्ता चंद के हाथों से बिखरती-बटती महसूस होती है तो प्रतिरोध के बादल भी छाते हैं। इल्जाम और षडयन्त्रों के खेल भी खेले जाते हैं। यहां ढांचों को उलट देना मकसद नहीं रहा बल्कि औरों को शामिल करने की कोशिश रही। ये साफ तौर से कहा भी। अगर इनमें से एक मामूली सी कोशिश का उदाहरण दूं तो, हमारे एक टीचर हैं जो बेहद खूबसूरत बोलते हैं। सालाना जलसे के इंचार्ज टीचर से गुज़ारिश की के उन्हें सदारत का मौक़ा दें। टाल-मटौल हुई, जब जलसे के दिन पूछा तो कहा गया, “मैम, चश्मा तक टूटा पहन कर आए हैं और कपड़ों का हाल बुरा है, क्या मौक़ा दें।” भई स्टेज पर बोलने का चमकने का मौक़ा कैसे हाथ से जाने देते। अगली बार के लिए दोनों तरफ से कोशिश की। एक को हिम्मत दिलाई, दूसरे को दरयादिली के लिए उकसाया। कहा, भई नए लोग आपसे सीख पाएं ऐसे मौक़े ढूंढने होंगे। खैर, जब स्टेज पर बमुश्किल आए तो बाद में एक मेहमान का कहना था, “कामपीरिंग करने वाले का मयार प्रोग्राम से कहीं बुलन्द था।” लोगों के साथ-साथ उनका हुनर भी मौक़े न मिलने से हाशियों का शिकार हो जाता है। कभी और सत्ताधारियों के प्रतिरोध का जिक्र भी करूंगी।

अब जब स्कूल के हालात कुछ बदले हैं तो टीचर में नया उत्साह देखने को मिलता है। एक दिन मेरी खुशी की इंतहा नहीं रही जब टीचर की तरफ से यह तजवीज़ आई। कहा, “मैम, हम चाहते हैं कि बच्चे और अच्छी तरह पढ़ें। इसके लिए हमारे कुछ सजेशन (Suggestion) हैं। हम चाहते हैं कि अगर आप टीजीटी टीचर्स की एक मीटिंग बुलाएं तो उसमें डिस्कस (Discuss) कर लें।” फ़ौरन मीटिंग बुलाई। अच्छे सुझाव भी आए कि कैसे बच्चों को समूह में पढ़ाने की कोशिश हो सकती है। एक टीचर ने अपने तजुरबे इस सिलसिले में औरों के साथ बांटे लेकिन सफ़र बहुत लम्बा है। कोशिश तो रही है कि अध्यापकों की कार्यशालाएं आयोजित हो पाएं। बस, कुछ ही हद तक इसमें कामयाबी मिली है। आइन्दा ज़्यादा पुरजोर कोशिश रहेगी कि हमारे टीचर ज़्यादा बेहतर पढ़ना-पढ़ाना सीख पाएं।

आपसे बातचीत जारी रहेगी। अगले अंक में सोचती हूं कि कुछ बच्चों से आपकी मुलाकात करवाई जाए। मुझे यकीन है इनकी ज़िन्दगी की जद्दोजहद देखकर आपको भी मेरी तरह ही हैरानी होगी। ♦